

राष्ट्रीय विकास के लिए साझे प्रयास

प्रो. ए. के. जलालुद्दीन

लेखक परिचय :

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद में लगभग 14 वर्षों तक प्रोफेसर के पद पर कार्य करते हुए कार्यवाहक निदेशक के पद से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति, शिक्षा के जाने-माने अध्येता, विभिन्न संगठनों में शिक्षा सलाहकार, शिक्षा के सिद्धान्त और व्यवहार को कक्षा प्रक्रियाओं से जोड़ने के लिए इलाहाबाद, कलकत्ता, अलीगढ़, दिल्ली आदि में स्वयंसेवी संगठनों के साथ सतत कार्य, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लगभग 100 शोधपत्र प्रकाशित।

सम्पर्क :

सी-33, गंगोत्री एन्कलेव,
अलकनन्दा, नई दिल्ली-110019

शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में राज्य और निजी उद्योग एक साथ मिलकर कैसे काम करें, यह आजकल शैक्षिक विमर्श का एक केन्द्रीय मुद्दा है। इस संदर्भ में कुछ दस्तावेज भी तैयार हुए हैं। सार्वजनिक-निजी साझेदारी पर योजना आयोग ने दो दस्तावेज तैयार करवाए हैं। उनमें से एक दस्तावेज आर्थिक क्षेत्र के बारे में है और दूसरा सामाजिक क्षेत्र के बारे में है। सामाजिक क्षेत्र में शिक्षा, स्वास्थ्य, महिला एवं बाल विकास, संस्कृति, परिवार कल्याण आदि को रखा गया है। इस साझेदारी के लिए तर्क दिया जा रहा है कि राष्ट्रीय विकास के लिए जितने प्रयास राज्य कर पा रहा है और जितने कर पाएगा, जरूरत उससे ज्यादा है। इसलिए यह कहा गया है कि निजी संगठन और स्वयं सेवी संगठन भी समाज सेवा में भागीदार हों, जहां से भी उनको आर्थिक संसाधन उपलब्ध हों, राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मिलजुल कर काम करें। राष्ट्रीय विकास में सब मिलजुल कर काम करें, इसमें तो बहस की गुंजाइश ही नहीं है।

जब यह कहा जाता है कि प्राथमिक शिक्षा सार्वजनीन और अनिवार्य हो तो सभी को शिक्षा सुविधाएं उपलब्ध करवाने का फर्ज राज्य का बन जाता है। इसके लिए संसाधनों की व्यवस्था करना, लोगों को प्रेरित करना, शोध और तकनीकी सहायता के लिए संगठन बनाना आदि भी राज्य की जिम्मेदारी बन जाती है। क्योंकि राज्य का मतलब है कि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि संविधान के मार्ग निर्देशन में राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में अनिवार्य रूप से कदम उठाएं। राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में सबकी भागीदारी होनी चाहिए। अतः इस दिशा में राजकीय एवं निजी उद्योगों और स्वयं सेवी संगठनों को एक साथ मिलकर काम करना चाहिए। यह राष्ट्रीय विकास के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है और प्राथमिक शिक्षा के लिए तो है ही।

समस्या की शुरुआत जहां से होती है वह यह कि आजकल माता-पिता सरकारी विद्यालयों से अपने बच्चों को निकालकर निजी विद्यालयों में भर्ती करवा रहे हैं। निजी विद्यालयों में बच्चों का जाना कोई नई बात नहीं है। आज हमें यह नई बात इसलिए लगती है कि आम जनता और गरीब जनता भी सरकारी विद्यालय में अपने बच्चों को नहीं भेजना चाहती जबकि 50-60 साल पहले, जब भारत आजाद हुआ, मध्यम वर्ग अपने बच्चों को निजी विद्यालय में ही शिक्षा अर्जन के लिए भेजता था। क्योंकि उस समय सरकारी विद्यालय बहुत ही कम थे। कई बार तो एक जिले में एक ही सरकारी विद्यालय होता था और एक ही विद्यालय में सबको पढ़ाना सम्भव नहीं था। तब सरकारी विद्यालय में दाखिल होना भी कठिन था। लेकिन यह भी सही है कि तब शिक्षा को सार्वजनीन और अनिवार्य नहीं माना जाता था। उस समय सरकारी विद्यालय में शिक्षक को तनखाह ज्यादा मिलती थी। उनकी शैक्षणिक योग्यताएं भी बहुत अच्छी होती थीं और शिक्षक सीधे शिक्षा विभाग के अन्य पदों के साथ जुड़े होते थे। अर्थात् उस समय शिक्षकों को ही पदोन्नत कर अगले पदों पर भेजा जाता था। जो शिक्षक असिस्टेंट होकर सरकारी विद्यालय में जाते थे वे

आगे जाकर प्रधान शिक्षक, सब-इन्स्पेक्टर, फिर इन्स्पेक्टर बनते थे और बाद में जाकर डिप्टी डायरेक्टर भी बनते थे। इसी तरह वे इससे भी आगे जा सकते थे। शिक्षा विभाग की यह परंपरा ब्रिटिश शासन काल में और उसके बाद भी कुछ सालों तक जारी रही। उस समय में सरकारी उच्च विद्यालय या कॉलेज प्रिंसीपल को ही शिक्षा अधिकारी बनाया जाता था। उस समय शिक्षा सेवा में शिक्षकों को ही महत्त्व दिया जाता था।

आजादी से पहले भी बहुत से व्यवसायियों और जमींदारों ने स्थानीय जनता की सेवा के लिए अस्पताल या विद्यालय खोले। इसी तरह जनता की सेवा के लिए निजी विद्यालय शुरू हुए। स्वाधीनता के बाद यह लगने लगा कि इतने कम सरकारी विद्यालयों से तो सभी तक शिक्षा नहीं पहुंचाई जा सकती। उस समय निजी विद्यालयों की संख्या सरकारी विद्यालयों से ज्यादा थी। इसीलिए गांधीजी ने 1930 में कहा था कि अंग्रेजों के आने से पहले सामाजिक उद्योगों से बने विद्यालयों की संख्या ब्रिटिश शासन द्वारा खोले गए प्राथमिक विद्यालयों की संख्या से ज्यादा है। यह हमारी सबसे बड़ी कामयाबी भी है कि सामाजिक और निजी उद्योगों ने मिलकर शिक्षा के प्रयास जारी रखे हैं और 15 अगस्त 1947 के बाद भी जारी हैं। लेकिन यह क्षेत्र कभी भी समस्या मुक्त नहीं रहा है। निजी संस्था या सामुदायिक उद्योग द्वारा संचालित स्कूलों में शिक्षकों को ज्यादा तनखाह नहीं मिल पाती थी। क्योंकि इन विद्यालयों का उद्देश्य मुनाफा कमाना नहीं था, इन्हें तो सेवा के लिए खोला गया था। समय गुजरने के साथ ही छात्रों की संख्या में वृद्धि के अनुपात में वित्तीय संसाधनों, कक्षा-कक्षाओं, शिक्षकों और शिक्षकों को तनखाह देने के लिए ज्यादा वित्तीय प्रबंध की जरूरत थी। अतः समुदाय या निजी संस्थानों द्वारा स्थापित और संचालित विद्यालय भी सरकारी सहायता चाहते थे। शिक्षक भी चाहते थे कि सरकार इस पाठशाला को ले ले ताकि उन्हें सरकारी विद्यालय के शिक्षकों के बराबर तनखाह मिल सके। ये दोनों ही जायज, स्वभाविक प्रक्रिया हैं। समुदाय या निजी उद्योगों के माध्यम से अभी तक जो विद्यालय चल रहे थे और जितने भौतिक संसाधन उनके द्वारा विकसित किए गए उतने आवश्यक भौतिक संसाधन राजकीय व्यवस्था द्वारा करना, इतने बड़े पैमाने पर और इतना जल्दी, शायद संभव नहीं था। हर गांव में सरकारी विद्यालय हो और हर बच्चा विद्यालय में हो इसके लिए शिक्षा बजट को भी इतना जल्दी बढ़ाना शायद संभव नहीं था।

कोठारी कमीशन की रिपोर्ट के बाद भी सरकार प्राथमिक शिक्षा को सार्वजनीन और माध्यमिक शिक्षा को अनिवार्य नहीं कर पाई। 1986 की शिक्षा नीति में प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीनकरण के लक्ष्य को सामने रखा। तब के आंकड़ों के अनुसार 2 लाख ऐसी छोटी आबादी थीं जहां कोई स्कूल नहीं था। छोटे बच्चों के लिए दूर

दराज के स्कूलों में जाना सम्भव नहीं है। ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड और उसके बाद की केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रायोजित योजनाओं में हर आबादी के लिए करीब एक-डेढ़ किलोमीटर में प्राथमिक और तीन किलोमीटर में एक उच्च प्राथमिक विद्यालय का प्रावधान किया गया। जब इन योजनाओं पर काम शुरू हुआ तो देखा गया कि जरूरत के अनुरूप कक्षा-कक्षा नहीं हैं और इतनी जल्दी इतने शिक्षक भी दे पाना संभव नहीं है। अभी भी करीब 80 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालयों में हर कक्षा के लिए अलग-अलग शिक्षक नहीं हैं। ऐसी स्थिति में 'मल्टीग्रेड टीचिंग' से सहमति या असहमति के बावजूद एक शिक्षक पर एक से अधिक कक्षा पढ़ाने का दायित्व होता है। इन समस्याओं को देखते हुए सामुदायिक और निजी उद्योग के बिना विद्यालयों की संख्या बढ़ाना भी मुश्किल है और चल रहे स्कूलों को प्राथमिक से उच्च प्राथमिक और माध्यमिक करना भी मुश्किल है। क्योंकि इतने साधन हमारे पास नहीं हैं।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया के आरंभ होने के बाद यह समस्या आई कि अर्थनीति के विकास के लिए माध्यमिक शिक्षा, उच्च शिक्षा या व्यावसायिक शिक्षा की स्थिति को सुधारा जाए। लेकिन वास्तविकता यह है कि हमारी आबादी के हिसाब से जितने उच्च विद्यालयों की जरूरत है वे उससे कम हैं। कुछ देशों, जैसे कि मलेशिया, सिंगापुर, जापान, चीन या अरब देशों में मिस्र, में उच्च शिक्षा या कॉलेज शिक्षा का प्रतिशत, आबादी के अनुपात में, भारत से ज्यादा है। यदि हम आर्थिक दृष्टि से विकास करना चाहते हैं तो रोजगारों के अवसर के अनुसार शिक्षित व्यक्ति भी चाहिए जो कि रोजगार के लिए तैयार हों। यदि इस आधार पर भी देखते हैं तो सरकारी या राष्ट्रीय उद्योग के लिए इतना जल्दी और इतने बड़े पैमाने पर ये सुविधाएं उपलब्ध कराना मुश्किल है। इन चुनौतियों का सामना करने के लिए भी यह आवश्यक है कि निजी संगठन इस काम में आगे आएँ। उच्च शिक्षा की जरूरत बढ़ने के साथ राज्य के लिए निःशुल्क शिक्षा उपलब्ध कराना भी संभव नहीं होगा। शिक्षा का स्तर बढ़ने के साथ शिक्षा पर निजी खर्च भी बढ़ता है। यह भी सही है कि जब कुछ निजी संगठन स्कूल खोलते हैं तो फीस बहुत ज्यादा रखते हैं क्योंकि प्रतिस्पर्धा के वातावरण में उन्हें ज्यादा फीस देने वाले शिक्षार्थी मिल जाते हैं। अतः इस समस्या का हल राजकीय नियंत्रण से कर पाना भी संभव नहीं हो पाता।

यदि हम विकसित देशों का इतिहास देखें तो वे इस समस्या का हल नियंत्रण के बजाए मांग और पूर्ति में सन्तुलन बैठकर करते हैं। मांग बहुत ज्यादा होने पर पूर्ति पूरी नहीं होती। मांग को पूरा करने के लिए यदि नए स्कूल, विश्वविद्यालय, कॉलेज, व्यावसायिक कॉलेज खोलने में देर होगी तो मांग बढ़ती ही जाएगी। हमारे यहां शिक्षा की मांग इतनी बढ़ गई है कि जिनके पास पैसा है वे हिन्दुस्तान

छोड़कर बाहर कॉलेज और विश्वविद्यालय में पढ़ने जा रहे हैं। इसके चलते उच्च शिक्षा के लिए इतना पैसा देश से बाहर जा रहा है जितना आज से दस साल पहले कभी नहीं गया। यदि इस पैसे का हिन्दुस्तान में ही निवेश किया जाए तो जितने उच्च शिक्षा के संस्थान अभी यहां हैं उससे तीन गुने स्थापित किए जा सकते हैं। और ऐसा करना भी चाहिए। यदि हमारे यहां स्थापित किए गए संस्थान, कॉलेज, तकनीकी संस्थान और विश्वविद्यालय अच्छे होंगे तो यहां भी बाहर से छात्र आ सकते हैं। अपने यहां के शैक्षिक संस्थानों को बेहतर बनाने का काम न्यूजीलैण्ड, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोपीय देश कर रहे हैं। यदि हम बेहतर संस्थान बना पाएं तो बाहर जाने के चलन को पलटा भी जा सकता है। बाहर पढ़ाई के लिए जाने की वजह यही है कि उच्च शिक्षा या तकनीकी शिक्षा में यहां समस्या है। अध्ययन के लिए बाहर जाने वाले छात्र वहां के निजी संस्थानों में ही अध्ययन करते हैं। इस समस्या का हल राष्ट्रीय नीति में परिवर्तन करके ही किया जा सकता है ताकि हमारे यहां शिक्षा में ज्यादा से ज्यादा निवेश हो। शिक्षा में निवेश करने वाली संस्थाओं के मानक, फीस का ढांचा, सभी को समान अवसर देने और कार्य प्रणाली तय करने के लिए कोई संगठन और कानून बनना चाहिए। इसमें सरकार की बहुत बड़ी भूमिका हो सकती है। इस कार्य के लिए सभी का सहयोग होना चाहिए और सभी को समान अवसर मिलना चाहिए। कौनसा संस्थान कहां होगा, कब होगा और इसके लिए संसाधन कहां से आएंगे आदि मुद्दों पर वर्तमान आर्थिक स्थिति में नियंत्रण शायद संभव नहीं है। निजी संगठनों, निजी उद्योगों की इसमें बहुत बड़ी भूमिका हो सकती है। लेकिन सवाल यह है कि प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में निजी संगठन और स्वयं सेवी संगठनों को साथ मिलझुल कर काम करने के लिए कैसे प्रेरित करें ? और इसके उद्देश्य क्या होंगे ? और उसमें राज्य की भूमिका क्या होगी ? इससे पहले यह देखने की जरूरत है कि सरकारी संगठनों के ध्येय, काम करने के तरीके और उनकी गुणवत्ता के बारे में आम जनता की क्या राय है ?

गरीब जनता को, जिसके विकास के लिए सरकारी मदद की जरूरत है और जिसे सरकारी सेवाओं का लाभ मिलना चाहिए, ज्यादातर क्षेत्रों में वह लाभ उन तक नहीं पहुंच पा रहा है। इस वर्ग को लाभ नहीं मिलने का एक कारण मध्यम वर्ग द्वारा सरकारी संगठनों को छोड़ देना है। आजकल बच्चे सरकारी विद्यालय छोड़कर निजी विद्यालय में चले जाते हैं क्योंकि निजी विद्यालयों के बारे में सुधार के लिए दबाव डाला जा सकता है और सही तरीके से काम नहीं करने पर आवाज उठाई जा सकती है। इस तरह सरकारी विद्यालयों में गुणात्मक परिवर्तन के लिए गरीब जनता आवाज नहीं उठा सकती। यदि गरीब और मध्यम वर्ग के बच्चे सरकारी विद्यालय

में एक साथ पढ़ें तो मध्यम वर्ग से दबाव आ सकता है और सरकारी संगठनों के काम करने के तरीके में बदलाव लाया जा सकता है। यदि मध्यम वर्ग सरकारी संगठन छोड़ देता है तो उसमें रह गए बच्चों के लिए आवाज उठाने वाला कोई नहीं बचता।

शिक्षा के सरकारीकरण की प्रक्रिया के द्वारा शिक्षक की तनखाह और सेवा शर्तों में परिवर्तन आया है। अभी शिक्षकों की संख्या इतनी ज्यादा है कि उनको कानूनी ढंग से अनुशासन में रखना और देखभाल करना शिक्षा विभाग के लिए सम्भव नहीं रहा। शिक्षा विभाग विद्यालयों के प्रबंधन में नाकामयाब रहा है। सरकारी विद्यालयों में यह सुनिश्चित करना मुश्किल हो गया है कि शिक्षक समय पर आएंगे, सही ढंग से पढ़ाएं, हर बच्चे पर ध्यान दें और जो बच्चे कमजोर हैं उनके लिए अलग से कुछ काम करें। इन स्थितियों को देखते हुए आज गरीब से गरीब जनता भी नहीं चाहती है कि उसके बच्चे सरकारी विद्यालय में जाएं। पूरे देश भर में सरकारी विद्यालयों के बारे में ऐसा माहौल बन गया है कि इन विद्यालयों को देखने वाला कोई नहीं है और गरीब जनता के पक्ष में आवाज उठाने वाला भी कोई नहीं है। इसीलिए अभी बहुत बड़ी संख्या में निजी विद्यालय खुल रहे हैं। ये विद्यालय उन्हीं समुदाय के लोग खोल रहे हैं और उनकी फीस भी बहुत ज्यादा नहीं है-पचास से दो-तीन सौ रुपया महीना तक है। फीस कम होती है तो शायद शिक्षक की तनखाह भी कम होगी। आज के समय में बेरोजगारी इतनी ज्यादा है कि गांव में ही उनको शिक्षित व्यक्ति मिल जाते हैं। हर बेरोजगार व्यक्ति भी चाहता है कि उसे काम करने का कोई अवसर मिले या उसे भी कोई सेवा का काम मिल जाए। वे भी चाहते हैं कि यदि ज्यादा पैसा न भी मिले तो कम से कम जेब खर्च के लिए ही कुछ पैसा मिल जाए। इसलिए यह नहीं कह सकते कि निजी विद्यालय गरीब जनता ही चाहती है। शिक्षित बेरोजगार वर्ग भी चाहता है। इन स्कूलों में ज्यादातर आसपास के ही बच्चे आते हैं और शिक्षक भी स्थानीय होते हैं। शिक्षकों को चालीस किलोमीटर दूर से नहीं आना पड़ता। अतः शिक्षकों की अनुपस्थिति या देर से आने की समस्याएं भी नहीं होतीं। इन निजी विद्यालयों की मांग दोनों तरफ से है। यह मांग गरीब जनता की ओर से भी आ रही है और शिक्षित वर्ग से भी आ रही है। इसीलिए तेज रफ्तार से सरकारी विद्यालयों से बच्चे निजी विद्यालयों में जा रहे हैं।

कुछ आंकड़े हमारे सामने हैं। हमने सर्व शिक्षा अभियान के तहत कलकत्ता में पिछले 10 साल काम किया है। पिछले 3 साल में कलकत्ता शहर में करीब 60-70 सरकारी विद्यालय बन्द करने पड़े। किसी भी राज्य के-फिर चाहे पश्चिम बंगाल हो, राजस्थान हो, उत्तर प्रदेश हो या आंध्रप्रदेश हो-शिक्षा अधिकारी से बात कर लें। वे कहते हैं कि हमारे विद्यालय के बच्चे बगल में खुले निजी विद्यालय

में जा रहे हैं। मैं पिछले सप्ताह एक राज्य में गया था। वहाँ के सबसे बड़े शिक्षा अधिकारी ने कहा कि, 'हमें जल्दी ही हजारों सरकारी विद्यालयों को बन्द करना पड़ेगा क्योंकि इन विद्यालयों में बच्चे नहीं रहे। शिक्षक को अतिरिक्त दिखाकर या तो निकालना पड़ेगा या वहाँ से तबादला करना पड़ेगा।' इस स्थिति को जानते हुए भी हमारे संसद या विधानसभाओं में इसकी चर्चा नहीं होती। क्योंकि अधिकारियों या राजनेताओं के बच्चे तो इन विद्यालयों में पढ़ते नहीं हैं। इसीलिए सरकारी विद्यालयों का स्तर गिरता जा रहा है। इन विद्यालयों की इस स्थिति पर सोचने, दबाव डालने और परिवर्तन करने के लिए कोई संगठन नहीं है।

दूसरी तरफ शिक्षक संघ भी राजनीति या किसी राजनैतिक पार्टी का हिस्सा बन गए हैं। प्रत्येक राज्य में अलग-अलग राजनैतिक पार्टी के साथ अलग-अलग शिक्षक संघ बन गए हैं और उसका फायदा उठा रहे हैं। मंत्री और शिक्षा अधिकारी अपने ऑफिस का दरवाजा बन्द करके कहते हैं कि यदि शिक्षक विद्यालय न जाएं तो क्या आज की राजनैतिक परिस्थिति में उन पर अनुशासनात्मक कार्यवाही के बारे में सोचा जा सकता है ? क्या यह संभव है ? इसका मतलब है कि अधिकारी और मंत्री हम से यह कह रहे हैं कि इस व्यवस्था को सुधारना नामुमकिन है। शिक्षक पर काम के लिए दबाव डालना या काम के लिए बाध्य करना आज हिन्दुस्तान की राजनीति में सम्भव नहीं है। जब राज्य के अधिकारी यह खुल्लम-खुल्ला कह रहे हैं तो इसका मतलब है हमारी राजनैतिक व्यवस्था गरीब जनता को सरकारी विद्यालय के अलावा जहाँ से भी शिक्षा मिल सकती है, वहाँ जाने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में हम क्या करें ?

समय के साथ माता-पिता की सोच में भी परिवर्तन आया है। आजकल वे जागरूक हो गए हैं और कहते हैं कि हमारे लिए अब कक्षा पांच तक की शिक्षा का कोई मूल्य नहीं रहा। हमारे बच्चों को कम से कम माध्यमिक या उच्च माध्यमिक स्तर तक पढ़ना चाहिए। इसलिए वे कहते हैं कि हम अपने बच्चों को उन्हीं विद्यालयों में भेजेंगे जहाँ वे आगे तक की पढ़ाई सफलतापूर्वक जारी रख सकें। उनका कहना है कि हम अपने बच्चों को सरकारी विद्यालय से निजी विद्यालय में इसलिए भेजते हैं क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि सरकारी विद्यालय में पढ़ने के बाद वह आगे पढ़ने लायक ही न रहे। यानी कि शुरू के 4-5 साल शिक्षा पर खर्च न करने का नतीजा यह न हो कि बच्चा पढ़ने लायक ही न बचे।

इस बहस का दूसरा पक्ष सरकारी शिक्षक है। सरकारी शिक्षक कहते हैं कि हमें तो मजबूर होकर बच्चों को अगली कक्षाओं में भेजना पड़ता है, बाकी ये बच्चे पढ़ने के लायक नहीं हैं। शिक्षक या

शिक्षा विभाग यह नहीं मानता कि हर बच्चे को पढ़ने लायक बनाना उनकी जिम्मेदारी है। ऐसी स्थिति में लाचार होकर विद्यार्थियों को भी ट्यूशन या कोचिंग क्लास शुरू करनी पड़ती है। यह सिर्फ निजी विद्यालय में भेजने का ही सवाल नहीं है, सरकारी विद्यालय में जाते हुए भी बच्चों की शिक्षा पर निजी खर्च, पारिवारिक खर्च बढ़ रहा है। उनके लिए अलग से कॉपियां और किताब खरीदनी पड़ती हैं। इन सभी खर्चों को देखते हुए यह कहना कि प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क है वास्तव में सही नहीं है। सरकार प्रत्येक बच्चे पर प्रतिवर्ष औसत 5000 रुपये खर्च करती है। फिर चाहे बच्चा स्कूल जाए या न जाए, कामयाब हो या न हो; ये राशि तो खर्च हो ही रही है। लेकिन इसका फायदा ज्यादातर लोगों तक नहीं पहुंच रहा है। एक तरफ सरकार पैसा खर्च करके भी उन तक नहीं पहुंच पा रही है और दूसरी तरफ माता-पिता को अलग से खर्च करना पड़ रहा है, जो कि नहीं करना चाहिए। अभी इस तरह के अध्ययन आ रहे हैं कि बहुत से राज्यों में 50 प्रतिशत माता-पिताओं को अलग से ट्यूटर या कोचिंग क्लास की व्यवस्था करनी पड़ रही है। यदि विद्यालय में ही सभी बच्चे सीख पाते तो यह पैसा खर्च नहीं करना पड़ता। शिक्षक कहते हैं कि जो बच्चे सीखने के लायक नहीं हैं, हम उनको नहीं सिखा सकते। यदि ऐसे बच्चे एक-दो प्रतिशत होते तो यह माना जा सकता था कि उनके विकास में, बचपन से या जन्म से, कुछ कमियां रह गई होंगी लेकिन ऐसे बच्चे 2-4 प्रतिशत से ज्यादा नहीं होते। जब यही बात 70-80 प्रतिशत बच्चों के बारे में कही जाती है तो यह किसी भी सूरत में मानने लायक बात नहीं लगती है।

समस्या यह भी है कि सभी एक तरह की बात कर रहे हैं। हमारे यहाँ रिसर्च के बड़े पंडित भी जोर देकर यह नहीं कहते कि हर बच्चा सीख सकता है और यदि नहीं सीखता है तो इसके लिए विद्यालय जिम्मेदार है, बच्चा नहीं। लेकिन जोर देकर यह कहने के लिए कोई राजनेता, कोई अफसर, कोई रिसर्चर या प्रोफेसर तैयार नहीं है। हम कहते हैं कि कम से कम एक बार यह नारा तो लगाओ कि सभी बच्चे सीख सकते हैं और यदि नहीं सीखते हैं तो इसके लिए बच्चा नहीं विद्यालय जिम्मेदार है। गरीब जनता को भी मालूम है कि उनका साथ देने के लिए आज कोई नहीं है। वास्तव में चाहे प्रगतिशील लोग हों, सामाजिक कार्यकर्ता हों, ट्रेड यूनियन हों, तरक्की की बात करने वाले हों, चाहे गरीबों की बात करने वाले हों; असल में आज वे गरीब के साथ नहीं हैं। ये सभी संगठन अपने फायदे के लिए काम करते हैं। वैश्वीकरण का फायदा दोनों तरफ से मध्यम वर्ग उठा रहा है। इसलिए गरीब जनता अपने लिए विकल्प ढूँढ़ रही है और अपने समुदाय में जो विकल्प मिलता है वे उसे पकड़ लेते हैं। वे नहीं पूछते कि यह विद्यालय किसने खोला है, इसमें मुनाफा है या नहीं, शिक्षक प्रशिक्षित हैं कि नहीं। वे देखते हैं कि यह विद्यालय हमारे बच्चे की

देखभाल करता है। शिक्षक हमारे साथ अच्छे ढंग से बात करते हैं और उन्हें लगता है कि उनके बच्चे कुछ सीख भी रहे हैं। साथ ही वे सोचते हैं कि आगे बढ़ने के लिए अंग्रेजी सीखना भी बहुत जरूरी है। अंग्रेजी सीखने की आवाज भी नीचे से आ रही है। अंग्रेजी की आवाज जब मध्यम वर्ग से आती है तो सब कहते हैं कि यह सही है, और अंग्रेजी माध्यम के स्कूल खुलने चाहिए। लेकिन समान स्कूल की बात करने वाले लोग इस वर्ग से उठने वाली आवाज के बारे में कहते हैं कि यह ठीक नहीं है, जबकि वे अपने बच्चों को विशिष्ट स्कूलों में भेजते हैं। मुनाफे के लिए चल रहे निजी विद्यालय में जब उनका बच्चा जाता है तो उन्हें किसी भी तरह की समस्या नहीं नजर आती। लेकिन जब गरीब जनता निजी विद्यालयों में अपने बच्चों को भेजती है तो वे कहते हैं कि, 'नहीं, वहां मत जाओ। तुम्हारे लिए तो सरकारी विद्यालय हैं।' राजनैतिक या प्रशासनिक स्तर यह दोहरापन है। इसे लोग जायज समझते हैं और इसे सही ठहराने के लिए तर्क ढूंढते हैं।

यदि हम चाहते हैं कि हर सरकारी विद्यालय अच्छा चले, वहां बच्चे आएँ, आसपास के सब बच्चे आएँ और ये विद्यालय आदर्श बनें तो इसके लिए सभी को समान रूप से काम करना होगा। पिछले 15-20 साल से हम कोशिश कर रहे हैं। हमारा ज्यादातर समय सरकारी विद्यालयों और शिक्षा विभाग के साथ मिलकर काम करने में ही जाता है। गोष्ठियों या सेमिनार में भी हम यही कहते हैं कि सरकारी विद्यालयों में बच्चे तब तक नहीं आएंगे जब तक इन विद्यालयों का प्रबंधन अच्छा नहीं होगा, जब तक इनमें जनता की भागीदारी नहीं होगी और जब तक विद्यालय चलाने की जिम्मेदारी समुदाय को नहीं दी जाएगी।

इसके साथ शिक्षाक्रम की चुनौती भी आती है। हमें यह भी देखना होगा कि प्राथमिक स्तर पर गरीब, देहाती और आदिवासी जनता के लिए जो शिक्षाक्रम बनाया जाता है उसकी भाषा और विषयवस्तु उन्हें कहीं शिक्षा से अलगाने वाली तो नहीं है। क्योंकि मध्यम वर्ग ने अपनी एक मानक भाषा बना ली है जिसे गरीब, देहाती और आदिवासी जनता समझ नहीं पाती। इस मानक भाषा ने इन वर्गों के बच्चों के लिए शिक्षाक्रम को जोखिमपूर्ण बना दिया है। मध्यम वर्ग के बच्चे आजकल स्कूल पूर्व तैयारी के साथ विद्यालय में आते हैं। ऐसी तैयारी के अक्सर गरीब और देहाती बच्चों को नहीं मिल पाते। उनके माता-पिता अशिक्षित होते हैं और उन्हें विद्यालय पूर्व घर में सीखने के अक्सर नहीं मिल पाता है। जब ये बच्चे विद्यालय में देखते हैं कि उनकी भाषा और किताब की भाषा में फर्क है तो उनके लिए सीखना मुश्किल हो जाता है।

जब इस वर्ग के बच्चे कक्षा एक में आते हैं तो 90 प्रतिशत

बच्चों के साथ यह देखा गया है कि पाठ्यपुस्तकों और भाषा सिखाने की प्रक्रिया में खामी है। वहां स्थानीय भाषा में सिखाने के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसके लिए शिक्षक को प्रशिक्षित नहीं किया जाता। इस पर कोई शोध नहीं कर रहा। गरीब माता-पिता सोचते हैं कि हमारे बच्चे भी अंग्रेजी सीखें। उनकी भाषा के अनुरूप भाषा सिखाने के तरीके होने चाहिए। बहुत से माता-पिता कोशिश करते हैं और निजी ट्यूटर भी लगाते हैं। और जो यह नहीं कर पाते उनके लिए अपने बच्चों को स्कूल में रख पाना बहुत मुश्किल हो जाता है और ऐसा बहुत ज्यादा तेज रफ्तार से हो रहा है। जब बच्चा कक्षा 5 से ऊपर जाता है, क्योंकि कक्षा पांच तक इम्तिहान नहीं होता, तो वह आगे पढ़ पाने में सक्षम नहीं होता। सर्व शिक्षा अभियान का मकसद कक्षा 8 तक निःशुल्क शिक्षा देना है। जब ये बच्चे उच्च प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय में जाते हैं तो शिक्षक कहते हैं कि ये बच्चे एक-दो दिन से ज्यादा कक्षा में बैठ नहीं सकते। क्योंकि कक्षा में जिस स्तर पर चर्चा होती है, शिक्षा का जो स्तर है, उसके हिसाब से बच्चा 3-4 कक्षा नीचे के स्तर पर होते हैं। इसलिए बच्चों के लिए वहां जाने का अर्थ नहीं होता। इसीलिए माता-पिता सोचते हैं कि बच्चों को सरकारी स्कूल में भेजने का कोई अर्थ नहीं है और जो माता-पिता अपने बच्चे को कक्षा एक से सरकारी विद्यालय में भेजते हैं वे भी तैयार होकर भेजते हैं कि उनकी अलग से मदद करनी होगी जो कि असल में नहीं होना चाहिए। वास्तव में यह काम स्कूल को ही करना चाहिए।

स्थानीय स्तर पर जो निजी विद्यालय खुल रहे हैं वे गरीब जनता की सेवा करते हैं, चाहे इसकी एज में वे पैसा लेते हैं। गरीब जनता भी सोचती है कि यदि बच्चों को शिक्षा देनी है तो पैसा तो खर्च करना ही होगा। यदि सरकारी नीति में परिवर्तन नहीं किया गया तो दिन-ब-दिन ज्यादातर बच्चे सरकारी विद्यालय छोड़कर निजी विद्यालय में जाते रहेंगे। इन परिस्थितियों में चाहे निजी विद्यालय का पंजीयन न किया जाए फिर भी वे हजारों की तादाद में फैलते रहेंगे। इन पर कोई प्रतिबन्ध लगाना सम्भव नहीं है और उचित भी नहीं है। यदि इन पर इस किसी भी तरह की कार्यवाही की जाएगी तो जनता कहेगी कि अपने सरकारी विद्यालय चलाकर दिखाइए। यदि सरकारी विद्यालयों को भली-भांति चलाने की जिम्मेदारी नहीं लेते तो निजी विद्यालयों की तरफ जनता का पलायन स्वभाविक है। जब तक सरकारी विद्यालयों को चलाने की जिम्मेदारी जनता को नहीं दी जाएगी, उनको भागीदार नहीं बनाया जाएगा तब तक कोई यह कहने का अधिकारी नहीं है निजी विद्यालय ठीक नहीं हैं या उनको सुविधा नहीं दी जाएगी। कोई भी सरकारी अधिकारी ऐसा नहीं जो अपने बच्चे को निजी विद्यालय में नहीं भेज रहा हो।

यह एक परिदृश्य है जिसकी वजह से शिक्षा के निजीकरण

के सवाल उठ रहे हैं। अब सवाल है कि सार्वजनिक-निजी भागीदारी (पीपीपी) क्या चीज है ? क्या यह निजीकरण की ओर जाने का रास्ता है ? कोई भी तब तक निजीकरण नहीं चाहता जब तक की राजकीय पैसे से उसके बच्चे को अच्छी शिक्षा मिलती रहे। कौन चाहता है उसे पैसा खर्च करना पड़े ? हमें बीमारी की जड़ को जहां पकड़ना चाहिए वहां हम नहीं पकड़ रहे हैं। शिक्षा विभाग में और बाकी सरकारी विभागों में भी भ्रष्टाचार फैला हुआ है। शिक्षा विभाग और प्रशासन की क्षमता अब बेहतर तरीके से सरकारी विद्यालय चलाने की नहीं है। प्रशासन स्कूलों के संचालन में एकदम नाकामयाब हो गया है। प्रशासन में बैठे लोग कहते हैं कि हम सार्वजनिक व्यवस्थाओं को नहीं चला पाएंगे क्योंकि राजनीतिज्ञ हमें काम नहीं करने देते। खुद अधिकारी भी राजनीति में अपनी पैठ रखते हैं ताकि उनको फायदा मिलता रहे। यह चौतरफा स्थिति है। इस स्थिति में ये कहना कि निजी संस्था या स्वयं सेवी संगठन को काम नहीं करना चाहिए, यह सही बात नहीं है। अभी समस्या यह है कि हम यह कहते रहें और सरकारी विद्यालय खाली होते रहें और हजारों करोड़ का बजट भी खर्च होता रहे। इन सभी के चलते एक तस्वीर बन रही है कि जनता का विश्वास न तो शिक्षक पर रहा है और न ही विद्यालय पर। यदि आज शिक्षक और शिक्षा विभाग का कोई सम्मान नहीं करता तो इसकी जिम्मेदारी सभी शिक्षा अधिकारियों और राजनेताओं की है। और इसका प्रतिवाद करने वाला कोई नहीं है। यदि इसके खिलाफ आम जनता आवाज उठाती है तो कह दिया जाता है कि यदि तुम्हें अपने बच्चे को नहीं पढ़ाना है तो ले जाओ यहां से, किसी और स्कूल में पढ़ा लो।

अभी सवाल है कि कैसे बच्चों को सरकारी विद्यालयों में वापस लाया जाए ? इसके लिए जरूरी है कि निजी संगठन या स्वयं सेवी संगठन स्थानीय समुदाय को इकट्ठा करके कहे कि हम सरकारी विद्यालय के साथ काम करना चाहते हैं। ऐसे विद्यालय चाहे कम हों लेकिन उनके साथ काम किया जाए। बच्चों के सीखने की समस्याओं पर काम किया जाए। यदि यह लगता है कि इन बच्चों के साथ अलग से समय देने की आवश्यकता है तो उन्हें अलग से समय दिया जाए। जो बच्चे विद्यालय से बाहर हैं उन्हें लाने में सभी मदद करें। इसके लिए कक्षा के अंदर भी काम करने की जरूरत है और कक्षा से बाहर भी काम करने की जरूरत है। इसके लिए जितने भी संसाधनों की आवश्यकता है उन्हें जुटाने की कोशिश की जानी चाहिए। इसी प्रकार निजी संस्थाओं और स्वयं सेवी संगठनों को सरकार के साथ मिलजुल कर काम करने का मौका मिलेगा। हम आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में इसी तरह काम कर रहे हैं। हम समुदाय के साथ भी काम कर रहे हैं। इसके लिए हम निजी संस्थाओं और इस तरह के काम के लिए सहायता करने वाले

संगठनों से मदद ले रहे हैं। हम कमजोर बच्चों की मदद का काम कर रहे हैं। जिन बच्चों को कॉपी-किताब, शिक्षकों के लिए सहायक शिक्षण सामग्री आदि चाहिए उन्हें उपलब्ध करवा रहे हैं। इस तरह की मदद के लिए लर्निंग सपोर्ट सिस्टम बनाने की जरूरत है। यदि राजकीय विद्यालयों में शिक्षकों की कमी है तो उसे भी पूरा किया जाना चाहिए। यदि इसके लिए सरकार मदद नहीं कर पाती है तो समुदाय के साथ मिलकर इसके लिए प्रयास करना चाहिए।

यदि इस तरह के प्रयास स्वयं सेवी संगठन या निजी संस्थान करते हैं तो जो बच्चे सरकारी विद्यालय छोड़कर जा रहे हैं उन्हें रोका जा सकता है। यदि यही काम पहले आरंभ कर दिया जाता तो आज हम बहुत आगे बढ़ सकते थे और अभी भी यदि हम कोशिश करें तो पांच-सात सालों में स्थिति में सुधार लाया जा सकता है। यह मान्यता भी ठीक नहीं है कि निजी विद्यालयों में जाने के बाद बच्चों की शिक्षा सही प्रकार हो रही है। इसके लिए निजी संगठन, स्वयं सेवी संगठन और सरकारी संगठन को समुदाय के साथ मिलजुल कर काम करने से ही सफलता मिलेगी। उन शिक्षित बेरोजगार व्यक्तियों को सरकारी विद्यालयों से जोड़ा जा सकता है जो निजी विद्यालयों में अपनी सेवाएं देते हैं। शिक्षा में निजी या स्वयं सेवी संगठनों की भागीदारी तब तक बढ़ती रहेगी जब तक सरकारी विद्यालयों में और शिक्षक नहीं आ जाएं एवं शिक्षण की प्रक्रियाएं बेहतर नहीं होंगी। इसके लिए स्थानीय स्तर पर ही प्रबंधन के तरीके विकसित करने होंगे। शिक्षा के प्रबंधन के लिए कानून में बदलाव लाने की जरूरत है। इसमें शिक्षा विभाग के साथ स्थानीय स्तर पर शाला प्रबंधन समिति और ग्राम विकास समिति में स्थानीय लोगों को स्थान मिलना चाहिए। इसमें ग्रामवासियों को भी अधिकार मिलने चाहिए, निर्णयों में उनकी ज्यादा भागीदारी होनी चाहिए। विद्यालय के शिक्षक की नियुक्ति, तबादले और पदोन्नति में ग्रामवासी, स्थानीय जन प्रतिनिधि और स्वयं सेवी संगठनों की भागीदारी होनी चाहिए। ये परिवर्तन सार्वजनिक-निजी भागीदारी के तहत लाए जा सकते हैं। इन परिवर्तनों को कानूनी रूप दिया जाना चाहिए। तभी जाकर ये आगे जारी रह पाएंगे। सार्वजनिक-निजी साझेदारी का मतलब ये नहीं है कि इससे सरकार अलग होती चली जाए और सरकारी स्कूल बंद होते चले जाएं।

हम चाहते हैं कि सब सरकारी स्कूल अच्छे चलें और निःशुल्क शिक्षा का अवसर सभी को मिले। संविधान में सभी को शिक्षा दिलाने का वायदा पूरा होना चाहिए। यही सर्व शिक्षा अभियान की शर्त भी है। इसके लिए शिक्षा व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता है और इसके लिए प्रशासन में सुधार लाना होगा। यह तभी संभव है जब विद्यालय संबंधी निर्णयों में स्थानीय जनता की भागीदारी बढ़ाई जाए। तभी जाकर शिक्षा विभाग के भ्रष्टाचार पर भी नियंत्रण

स्थापित किया जा सकता है। जब तक स्थानीय जनता को शाला संबंधी निर्णयों में भागीदार नहीं बनाया जाएगा तब तक ये मुद्दे बने रहेंगे। प्रजातंत्र का मतलब भी यही है कि जनता को निर्णय प्रक्रिया में भागीदार बनाया जाए। प्रजातंत्र में यह परिवर्तन इसलिए जरूरी है क्योंकि प्रजातंत्र में जनता ही मालिक है। शिक्षक, अधिकारी और कर्मचारी जनता के ही कर्मचारी हैं। लेकिन अंग्रेजी राज से ही हमारी यह मानसिकता बनी हुई है कि मालिक तो शिक्षक एवं अधिकारी हैं और गरीब जनता उनको सेवा देती है। हमारे यहां यह उल्टा काम हुआ है कि मालिक को सेवक बना दिया और सेवक को मालिक। किसी भी विकसित देश में यह सम्भव नहीं है। वहां जनता और टेक्स देने वाली जनता विद्यालयों की संचालन समिति में होती है और विद्यालयों का नेतृत्व उनके हाथ में रहता है। इसलिए वे स्कूलों को अपना मानते हैं और स्कूल भी मानते हैं कि ये स्कूल जनता के स्कूल हैं। तभी जाकर प्रशासन और शिक्षकों की जिम्मेदारी बढ़ती है। जब तक इन शर्तों में बदलाव नहीं लाया जाएगा, शिक्षा में राजनीतिक हस्तक्षेप की प्रक्रिया को खत्म नहीं होगी और जनता की भागीदारी की प्रक्रिया की कानूनी दर्जा नहीं दिया जाएगा तब तक निजीकरण की प्रक्रिया का बुरा फल मिलता रहेगा। शिक्षा व्यवस्था में जो भी परिवर्तन होंगे उनका अच्छा और बुरा फल जनता को ही भुगतना पड़ेगा। यदि शिक्षा प्रक्रिया में जनता को भागीदार बनाएंगे तो निजी संगठनों के माध्यम से मिलने वाली सेवाओं में भी जनता नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश कर पाएगी।

राज्य की भी यह जिम्मेदारी है कि वह विकास के कार्यों में मदद करे और साथ ही नियंत्रण करे। निजी संगठनों को नियंत्रित करने का तरीका ऐसा नहीं होना चाहिए कि उनको बन्द किया जाए। उनको भी जनता के प्रति जिम्मेदार बनाया जाए। उनका प्रबंधन भी इस तरह होना चाहिए कि उसमें सरकार और जनता के प्रतिनिधि हों। सरकारी उद्योग के साथ निजी और समुदायिक उद्योग को एक साथ लाने में प्रशासन और शिक्षा नीति में संशोधन एक बहुत ही बड़ा मुद्दा है। जब तक इस दृष्टि से नहीं देखेंगे तब तक समस्या रहेगी, हमें सार्वजनिक के बदले निजी और निजी के बदले सार्वजनिक नहीं चाहिए। यहां एक को दूसरे में बदलने का सवाल नहीं है। हमें दोनों ही चाहिए और दोनों मिलजुल कर जिम्मेदारी से काम करें। यह काम मुनाफे के लिए नहीं है। हमारे संविधान की शर्त को मिलजुल कर पूरा करने का मसला है। उच्च स्तर पर शिक्षा के लिए सरकार की भूमिका नियंत्रण करने के साथ-साथ कार्य को आगे बढ़ाने वाले के रूप में हो ताकि उच्च शिक्षा के अवसर पैदा हों। यदि निजी संगठन शिक्षा के क्षेत्र या विकास के अन्य क्षेत्रों में काम करें तो उनके नियंत्रण के लिए ऐसे कानून बनाए जाएं जिससे कि सब लोगों का समान अधिकार मिल सकें। जिन देशों ने भी

शिक्षा के क्षेत्र में तरक्की की है उनका शिक्षा का इतिहास बताता है कि निजी और सरकारी संगठन या स्वयं सेवी संगठन कितना मिलकर काम कर सकते हैं। विकास के कार्यों में सभी को अवसर मिलने चाहिए। निजी संगठन भी जनता के नियंत्रण में रहने चाहिए।

अभी वर्तमान में शिक्षा में जो सार्वजनिक-निजी साझेदारी के कुछ रूप सामने आ रहे हैं उनको साझेदारी नहीं कहकर यह कहा जाएगा कि सरकार साझेदारी के नाम पर सब-कोन्ट्रैक्ट दे रही है। सब-कोन्ट्रैटिंग की प्रक्रिया में यह सवाल आते हैं कि जिम्मेदारी किसकी होगी ? गुणवत्ता का नियंत्रण किस प्रकार होगा ? जनता की भागीदारी का क्या होगा और इसके तहत लगाए जा रहे शिक्षकों की नियुक्ति और उनके भविष्य का क्या होगा ? इन प्रक्रियाओं में स्थानीय समुदाय और जनता को बिना भागीदार बनाए इसे सही मायने में साझेदारी नहीं कहा जा सकता। जिस तरह की साझेदारी अभी हो रही है इसमें तो सरकार खुद काम नहीं करना चाहती इसलिए वह सब-कोन्ट्रैक्ट दे रही है और इसकी कोई जिम्मेदारी तय नहीं कर रही है। लेकिन हम चाहते हैं कि सार्वजनिक-निजी साझेदारी के रूप में जो भी अनुबंध हो रहे हैं उनकी रूपरेखा कानूनी तौर पर बनाई जानी चाहिए। जिसमें कि जनता की भागीदारी, गुणवत्ता नियंत्रण और पारदर्शिता होनी चाहिए।

हमारी राजनैतिक व्यवस्था में भ्रष्टाचार इतना फैल गया है कि सरकारी योजनाओं का फायदा आम जनता तक नहीं पहुंच पा रहा है। हमारे वित्त मंत्री और अन्य मंत्रियों ने स्वीकार किया है कि हमारे यहां योजनाओं का फायदा आम जनता तक नहीं पहुंच रहा है। विकास कार्य में लगने वाले पैसे के बारे में राजीव गांधी ने कहा था कि आम जनता तक एक रुपये में 33 पैसे ही पहुंचते हैं। सरकार हर बच्चे पर प्रति माह लगभग 500 रुपये खर्च कर रही है लेकिन उसका फायदा उन बच्चों को नहीं मिल पा रहा है। इसी तरह की समस्याओं के चलते वाउचर प्रणाली जैसी व्यवस्थाओं की बात की जा रही है कि कम से कम आम जनता तक सरकारी पैसा पहुंचे तो सही। केन्द्रीय सरकार द्वारा अभी किसानों के 60 हजार करोड़ की कर्ज माफी के संदर्भ में भी यह बहस उठी थी कि यह किसानों को सीधे फायदा पहुंचाना है। क्योंकि योजनाओं का पैसा तो उन तक पहुंच नहीं पाता है। इसके खिलाफ बोलने वाले लोग भ्रष्टाचार के खिलाफ नहीं बोलते। इसलिए यदि मौजूदा हालात हमें इन दिशाओं में ले जा रहे हैं तो इसमें दिक्कत क्या है ? आम जनता को सरकारी योजनाओं का फायदा मिले इसके लिए जरूरी है कि निर्णय प्रक्रिया को विकेन्द्रीकृत किया जाए। तभी जाकर शायद व्यवस्थाओं में सुधार आए। ♦